

Chapter सात

राजा भरत कार्यकलाप

इस अध्याय में सम्पूर्ण संसार के सम्राट राजा भरत महाराज के कार्यों का वर्णन हुआ है। भरत महाराज ने अनेक वैदिक यज्ञ किये और अनेक प्रकार की पूजा द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न किया। कालान्तर में गृहत्याग करके वे हरद्वार में रहने लगे और भक्ति कार्यों में अपना समय बिताने लगे। अपने पिता ऋषभदेव की आज्ञा से भरत महाराज ने विश्वरूप की पुत्री पंचजनी से विवाह किया। तत्पश्चात् उन्होंने शान्तिपूर्वक सारे विश्व पर राज्य किया। पहले यह लोक अजनाभ कहलाता था, किन्तु भरत महाराज के शासन के बाद इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत महाराज को पंचजनी के गर्भ से पाँच पुत्ररत्नों की प्राप्ति हुई जिनके नाम सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु रखे गये। भरत महाराज धर्म के पालन तथा अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण करने में अत्यन्त कठोर थे, फलतः उन्होंने अपनी प्रजा पर सुचारु रूप से शासन किया। परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए अनेक यज्ञ सम्पन्न करने के कारण वे स्वयं अति संतुष्ट थे। अविचलित मन से वे भगवान् वासुदेव की भक्ति बढ़ाते गये। वे नारद जैसे ऋषियों के सिद्धान्तों को समझने में दक्ष थे और उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते थे। वे भगवान् वासुदेव को निरन्तर हृदय में धारण करते थे। राजकार्य कर चुकने के बाद उन्होंने अपने साम्राज्य को पाँचों पुत्रों में बाँट दिया। फिर घर छोड़ कर पुलहाश्रम गये। वहाँ वे जंगली वनस्पतियाँ तथा फल खाकर भगवान् वासुदेव का पूजन प्रत्येक उपलब्ध वस्तु से करते रहे। वासुदेव के प्रति भक्ति बढ़ जाने से वे अपने दिव्य आनन्दमय जीवन का अनुभव स्वतः करने लगे। सिद्धावस्था के कारण कभी-कभी उन्हें अपने शरीर में अष्ट-सात्त्विक विकार यथा प्रेम-रुदन, वपु-कम्पन दृष्टिगोचर होते थे, जो भगवत्प्रेम के सूचक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋग्वेद में वर्णित मंत्रों से, जिन्हें गायत्री मंत्र कहते हैं और जिनका लक्ष्य सूर्य के भीतर स्थित परम नारायण है, परमेश्वर की आराधना करते थे।

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं
विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भरतः—महाराज भरत; तु—लेकिन; महा-भागवतः—ईश्वर का महान् भक्त; यदा—जब; भगवता—अपने पिता भगवान् ऋषभदेव की आज्ञा से; अवनि-तल—पृथ्वी पर; परिपालनाय—शासन करने के लिए; सञ्चिन्तितः—दृढ़-निश्चय; तत्-अनुशासन-परः—पृथ्वी पर शासन करने में रत; पञ्चजनीम्—पंचजनी; विश्वरूप-दुहितरम्—विश्वरूप की पुत्री को; उपयेमे—विवाह कर लिया।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को और आगे बताया—हे राजन्, भरत महाराज सर्वोच्च भक्त थे। अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए जिन्होंने उन्हें सिंहासन पर बैठाने का निर्णय पहले ही ले रखा था। वे तदनुसार पृथ्वी पर राज्य करने लगे। समस्त संसार पर राज्य करते हुए वे अपने पिता के आदेशों का पालन करने लगे और उन्होंने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह कर लिया।

तस्यामु ह वा आत्मजान्कात्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसके गर्भ में; उ ह वा—निस्संदेह; आत्म-जान्—पुत्रों को; कात्स्न्येन—पूर्णतः; अनुरूपान्—अनुरूप, समान; आत्मनः—अपने; पञ्च—पाँच; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; भूत-आदिः इव—अहंकार के सदृश; भूत-सूक्ष्माणि—पाँच भूत, तन्मात्र; सु-मतिम्—सुमति; राष्ट्र-भृतम्—राष्ट्रभृत; सु-दर्शनम्—सुदर्शन; आवरणम्—आवरण; धूम्र-केतुम्—धूमकेतु; इति—इस प्रकार।

जिस प्रकार मिथ्या अहंकार से भूत-तन्मात्र (सूक्ष्म-इन्द्रिय विषय) उत्पन्न होते हैं वैसे ही महाराज भरत को अपनी पत्नी पंचजनी के गर्भ से पाँच पुत्र प्राप्त हुए। इन पुत्रों के नाम थे—सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु।

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अजनाभम्—अजनाभ; नाम—नाम से; एतत्—यह; वर्षम्—द्वीप; भारतम्—भारत; इति—इस प्रकार; यतः—जिससे; आरभ्य—प्रारम्भ करके; व्यपदिशन्ति—कहते हैं, पुकारते हैं।

पहले इस देश का नाम अजनाभवर्ष था, किन्तु महाराज भरत के शासन काल से इसका नाम भारतवर्ष पड़ा।

तात्पर्य : यह देश पहले राजा नाभि के शासन के कारण अजनाभ कहलाता था। भरत महाराज के शासन काल के बाद यह भारतवर्ष कहलाया।

स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा (महाराज भरत); बहु-वित्—महान् ज्ञानी; मही-पतिः—पृथ्वी का शासक, राजा; पितृ—पिता; पितामह—बाबा; वत्—सदृश; उरु-वत्सलतया—नागरिकों (प्रजा) पर अत्यधिक वत्सल (स्नेहिल) होने के कारण; स्वे स्वे—अपने अपने; कर्मणि—कर्तव्य में; वर्तमानाः—रहकर; प्रजाः—प्रजा; स्व-धर्मम् अनुवर्तमानः—अपने कर्तव्य में लगे रहकर; पर्यपालयत्—शासन किया ।

भरत महाराज इस पृथ्वी पर अत्यन्त ज्ञानी तथा अनुभवी राजा थे। वे स्वयं अपने कार्यों में संलग्न रह कर प्रजा पर अच्छी प्रकार से राज्य करते थे। वे अपनी प्रजा के प्रति उतने ही वत्सल थे जितने उनके पिता तथा पितामह रह चुके थे। उन्होंने प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रख कर इस पृथ्वी पर शासन किया।

तात्पर्य : यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुख्य कार्यकारी प्रजा को अपने अपने कार्यों में निरत रख कर शासन करे। प्रजा में से कुछ ब्राह्मण थे, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य तथा शूद्र। यह देखना शासन का कर्तव्य है कि नागरिक इन विभागों के अनुसार अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए कार्य करें। किसी भी नागरिक को बिना काम के नहीं रहना चाहिए। उसे भौतिक पथ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र की तरह और आध्यात्मिक धरातल पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के रूप में आचरण करना चाहिए। यद्यपि पूर्वकाल में शासन प्रणाली राजकीय प्रणाली थी और निरंकुश शासन होता था, किन्तु सभी राजा प्रजा के प्रति अत्यधिक वत्सल होते थे और वे प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रखते थे। इसलिए समाज का संचालन सहजता से होता था।

ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाहताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ईजे—आराधना की; च—भी; भगवन्तम्—भगवान् की; यज्ञ-क्रतु-रूपम्—पशु सहित तथा पशु रहित यज्ञों वाले; क्रतुभिः—ऐसे यज्ञों से; उच्चावचैः—अत्यन्त बड़े तथा अत्यन्त छोटे; श्रद्धया—श्रद्धा समेत; आहृत—किया गया; अग्नि-होत्र—अग्नि होत्र यज्ञ का; दर्श—दर्श यज्ञ का; पूर्णमास—पूर्णमास यज्ञ का; चातुर्मास्य—चातुर्मास्य यज्ञ का; पशु-सोमानाम्—पशु तथा सोम रस से सम्पन्न यज्ञों का; प्रकृति—पूर्ण अनुष्ठानों द्वारा; विकृतिभिः—तथा आंशिक अनुष्ठानों द्वारा; अनुसवनम्—प्रायः; चातुः-होत्र-विधिना—चार प्रकार के पुरोहितों (ऋत्विजों) द्वारा निर्देशित यज्ञ विधि-विधानों के द्वारा।

राजा भरत ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अनेक प्रकार के यज्ञ किये। इनके नाम हैं अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु-यज्ञ (जिसमें अश्व की बलि दी जाती थी) तथा सोम-यज्ञ (जिसमें

सोमरस प्रयुक्त होता था) भेंट किया जाता था । कभी ये यज्ञ पूर्ण रूप से तो कभी आंशिक रूप में सम्पन्न किये जाते थे। प्रत्येक दशा में समस्त यज्ञों में चातुर्होत्र नियमों का दृढ़ता से पालन किया जाता था। इस प्रकार भरत महाराज भगवान् की उपासना करते थे।

तात्पर्य : यज्ञ की पूर्ण सम्पन्नता की परीक्षा के लिए ही सूकरों तथा गायों की बलि दी जाती थी; अन्यथा पशुओं की बलि चढ़ाने का कोई प्रयोजन न था। वास्तव में यज्ञ-अग्नि में पशु बलि पुनः तरुण-जीवन प्राप्त करने के लिए की जाती थी। सामान्यतः बूढ़े पशु की बलि दी जाती थी जो तरुण शरीर लेकर पुनः प्रकट हो जाता था। किन्तु कुछ अनुष्ठानों में पशु बलि की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वर्तमान युग में पशुओं की बलि पर प्रतिबन्ध है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (चैतन्य चरितामृत आदि १७.१६४) —

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पल-पैतृकम् ।

देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत् ॥

“इस कलियुग में पाँच प्रकार के कार्य वर्जित हैं—यज्ञ में अश्व की बलि, यज्ञ में गोबलि, संन्यास धारण करना, पितरों को मांस-अर्पण करना तथा भाई की पत्नी से सन्तानोत्पत्ति।”

कलियुग में ऐसे यज्ञ असम्भव हैं, क्योंकि ऐसे पटु ब्राह्मणों या ऋत्विजों का अभाव है जो इस उत्तरदायित्व को ग्रहण कर सकें। इन यज्ञों के अभाव में संकीर्तन यज्ञ की संस्तुति की जाती है। यज्ञैः संकीर्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधसः (भागवत ११.५.३२)। कुल मिलाकर यज्ञों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। यज्ञार्थकर्म—ऐसे कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए किये जाने चाहिए। इस कलिकाल में भगवान् के अवतार श्री चैतन्य महाप्रभु की उनके पार्षदों सहित उपासना संकीर्तन यज्ञ द्वारा की जानी चाहिए जिसमें “हरे कृष्ण मंत्र” का सामूहिक जप किया जाता है। यह विधि बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा स्वीकार की जाती है। यज्ञैः संकीर्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधसः । सुमेधसः शब्द उन बुद्धिमान लोगों के लिए प्रयुक्त है जिनका मस्तिष्क उच्च कोटि का होता है।

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात्कर्तारि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान

आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो
देवांस्तान्पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सम्प्रचरत्सु—अनुष्ठान प्रारम्भ करते समय; नाना-यागेषु—अनेक प्रकार के यज्ञ; विरचित-अङ्ग-क्रियेषु—जिसमें गौण कृत्य किये जाते थे; अपूर्वम्—सुदूर; यत्—जो भी; तत्—वह; क्रिया-फलम्—यज्ञ का फल; धर्म-आख्यम्—धर्म के नाम से; परे—दिव्य; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; यज्ञ-पुरुषे—समस्त यज्ञों का भोक्ता; सर्व-देवता-लिङ्गनाम्—देवताओं को प्रकट करने वाले; मन्त्राणाम्—मंत्रों का, वैदिक स्तुतियों का; अर्थ-नियाम-कतया—पदार्थों का नियन्त्रा होने से; साक्षात्-कर्तरि—साक्षात् करने वाला; पर-देवतायाम्—समस्त देवताओं के कारण; भगवति—भगवान्; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; एव—निश्चय ही; भावयमानः—सदैव चिन्तन करते हुए; आत्म-नैपुण्य-मृदित-कषायः—समस्त काम तथा क्रोध से रहित; हविःषु—यज्ञ में डाली जाने वाली सामग्री, हवि; अध्वर्युभिः—जब अथर्ववेद में वर्णित यज्ञों में दक्ष पुरोहित; गृह्यमाणेषु—लेते हुए; सः—महाराज भरत ने; यजमानः—यज्ञ करने वाला; यज्ञ-भाजः—यज्ञ-फल को पाने वाले; देवान्—समस्त देवताओं को; तान्—उन; पुरुष-अवयवेषु—भगवान् गोविन्द के शरीर के अंग प्रत्यंगों में; अभ्यध्यायत्—सोचा।

विभिन्न यज्ञों के प्रारम्भिक कार्यों को कर लेने के बाद महाराज भरत यज्ञफलों को धर्म के नाम पर भगवान् वासुदेव को अर्पण कर देते थे। अर्थात्, वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए समस्त यज्ञ करते थे। महाराज भरत सोचते थे कि सभी देवता भगवान् वासुदेव के शरीर के अंगस्वरूप हैं और वैदिक मंत्रों में जो भी वर्णित है वे उसके नियन्त्रा हैं। इस प्रकार से चिन्तन के फलस्वरूप महाराज भरत आसक्ति, काम तथा लोभ जैसे भौतिक कल्मष से मुक्त थे। जब पुरोहितगण अग्नि में हवि अर्पित करने वाले होते तो महाराज भरत को यह ज्ञात हो जाता था कि विभिन्न देवताओं को दी जाने वाली यह हवि ईश्वर के विभिन्न अवयवों (अंगों) के निमित्त है। उदाहरणार्थ, इन्द्र भगवान् के बाहु स्वरूप और सूर्य उनके नेत्र हैं। इस प्रकार महाराज भरत ने विचार किया कि विभिन्न देवताओं को दी जाने वाली आहुतियाँ वास्तव में भगवान् वासुदेव के अंग-प्रत्यंग के निमित्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् का कथन है कि जब तक श्रवणं कीर्तनं वाली शुद्ध भक्ति का विकास न हो तब तक मनुष्य को अपने कर्तव्य करते रहना चाहिए। चूँकि भरत महाराज महान् भक्त थे, अतः कोई पूछ सकता है कि वे इतने सारे यज्ञ क्यों करते थे, जो वास्तव में कर्मियों के लिये हैं। तथ्य यह है कि वे वासुदेव के आदेशों का पालन मात्र कर रहे थे। भगवद्गीता (१८.६६) में श्रीकृष्ण ने कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—सभी धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आओ। चाहे हम जो भी करें हमें वासुदेव का स्मरण करते रहना चाहिए। लोग सामान्य रूप से विभिन्न देवताओं को नमस्कार करने के आदी हैं, किन्तु महाराज भरत तो केवल वासुदेव को प्रसन्न करना चाहते थे। जैसाकि

भगवद्गीता (५.२९) में कहा गया है— भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। यज्ञ चाहे जिस विशेष देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाये, किन्तु जब कोई यज्ञ उस यज्ञ-पुरुष नारायण को समर्पित होता है, तो सभी देवता प्रसन्न होते हैं। विभिन्न यज्ञों का उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना है चाहे कोई विभिन्न देवताओं के नाम पर करे या सीधे नारायण के लिए। यदि हम सीधे भगवान् को आहुति देते हैं, तो सभी देवता स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं। यदि हम पौधे की जड़ को सींचते हैं, तो उसकी शाखाएँ, फल, फूल स्वतः तुष्ट हो जाते हैं। जब कोई विभिन्न देवताओं के लिए यज्ञ करता है, तो उसे स्मरण रखना चाहिए कि ये देवता परमेश्वर के शरीर के विभिन्न अंग मात्र हैं। यदि हम किसी के हाथ की पूजा करते हैं, तो हमारा मन्तव्य उस व्यक्ति को प्रसन्न करने से होता है। यदि हम किसी व्यक्ति के पैर दबाते हैं, तो हम वास्तव में केवल पाँवों की नहीं वरन् पाँव वाले व्यक्ति की सेवा करते हैं। जितने भी देवता हैं, वे भगवान् के विभिन्न अंश हैं और जब हम उनकी सेवा करते हैं, तो वास्तव में हम स्वयं भगवान् की सेवा करते हैं। ब्रह्म-संहिता में देवताओं की पूजा का वर्णन है, किन्तु सभी श्लोक भगवान् गोविन्द की उपासना का समर्थन करते हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्म-संहिता (५.४४) में देवी दुर्गा की पूजा—ब्रह्म संहिता में इसप्रकार वर्णित है :

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।

इच्छानुरूपम् अपि यस्य च चेष्टते सा

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

श्रीकृष्ण के आदेश से ही देवी दुर्गा सृष्टि, पालन और संहार करती हैं। श्रीकृष्ण ने भी इस कथन की पुष्टि भगवद्गीता (९.१०) में इस प्रकार की है—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्—“हे कौन्तेय! यह प्रकृति मेरे आदेश के अनुसार कार्य करती है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों का सृजन करती है।”

हमें इसी भावना से देवताओं की पूजा करनी चाहिए। चूँकि देवी दुर्गा श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखती हैं, इसलिए हमें देवी दुर्गा का आदर करना चाहिए। भगवान् शिव भी श्रीकृष्ण के अंश रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, इसलिए हमें शिव का आदर करना चाहिए। इसी प्रकार हमें ब्रह्मा, अग्नि तथा सूर्य

का आदर करना चाहिए। विभिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की भेंटों की जाती हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे सब भगवान् को ही प्रसन्न करने के लिए हैं। भरत महाराज को देवताओं से किसी प्रकार का वर प्राप्त करने की इच्छा न थी। उनका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था। *महाभारत* में विष्णु के सहस्र नामों में *यज्ञ-भुग् यज्ञ-कृद् यज्ञः* भी आया है। परमेश्वर यज्ञों का भोक्ता, यज्ञों का कर्ता तथा साक्षात् यज्ञ है। परमेश्वर प्रत्येक वस्तु का कर्ता है, किन्तु अज्ञानवश जीवात्मा अपने को ही कर्ता मान बैठता है। जब तक हम अपने को कर्ता मानते हैं तब तक हम कर्म-बन्धन पैदा करते हैं। यदि हम यज्ञ अर्थात् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करते हैं, तो कर्मबन्धन नहीं रह जाता। *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है— *यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः—*“ विष्णु के यज्ञ के रूप में कर्म करना है होता है; यदि विष्णु के लिए यज्ञ नहीं किया जाता तो कर्म इस भौतिक जगत से बाँध लेता है।”

भरत महाराज की शिक्षाओं का पालन करते हुए हमें चाहिए कि अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु भगवान् की तुष्टि के लिए कार्य करें। *भगवद्गीता* (१७.२८) में यह भी कहा गया है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

परब्रह्म में श्रद्धा के बिना जो कुछ यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् हैं। अतः उनका न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में कोई लाभ है।

महाराज अम्बरीष जैसे राजाओं तथा अन्य राजर्षियों ने अपना सारा समय भगवद्भक्ति में लगाया, क्योंकि वे शुद्ध भक्त थे। जब कोई शुद्ध भक्त किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से कोई सेवा कार्य करता है, तो उसकी आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका यह कार्य ईश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त है। हो सकता है कि भक्त कर्मकाण्ड कराने के लिए किसी ऐसे पुरोहित को रखे जो वैष्णव न हो, किन्तु चूँकि भक्त भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है इसलिए उसकी आलोचना नहीं होनी चाहिए। यहाँ *अपूर्व* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *अपूर्व* का अर्थ है *कर्म-फल*। जब हम कोई पाप या पुण्य करते हैं, तो उसका फल तुरन्त नहीं मिलता। अतः हम फल की प्रतीक्षा करते हैं जिसे *अपूर्व* कहते हैं। ये फल भविष्य में प्रकट होते हैं। यहाँ तक कि स्मार्त भी अपूर्व को मानते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते हैं, फलतः उनके कर्मफल दिव्य अथवा स्थायी होते हैं। वे कर्मियों के

फल के समान अस्थायी नहीं होते। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (४.२३) में की गई है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

“जो पुरुष प्रकृति के गुणों में आसक्त नहीं है और तत्त्वज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अध्यात्म में विलीन हो जाते हैं।”

भक्त भौतिक कलुष से मुक्त रहता है। वह सदैव ज्ञान में स्थित रहता है, अतः उसके सारे यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते हैं।

एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कर्म—विशुद्ध्या—श्रीभगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित करते हुए अपने पुण्यकर्मों के फल की अभिलाषा न करते हुए, कर्म शुद्धि से; विशुद्ध-सत्त्वस्य—भरत महाराज का, जिनका जीवन पूर्णतः शुद्ध था; अन्तः—हृदय-आकाश-शरीर—योगियों द्वारा ध्यान किये जाने वाले अन्तर्यामी परमात्मा; ब्रह्मणि—निराकार ब्रह्म में, जिसकी आराधना निर्गुण ज्ञानी करते हैं; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेवे—वासुदेव श्रीकृष्ण में; महा-पुरुष—परम पुरुष का; रूप—स्वरूप, आकार; उपलक्षणे—लक्षणों वाला; श्रीवत्स—भगवान् के वक्षस्थल का चिह्न, श्रीवत्स; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; वन-माला—पुष्पों का हार; अरि-दर—चक्र तथा शंख; गदा-आदिभिः—(तथा) गदा इत्यादि अन्य लक्षणों से; उपलक्षिते—पहचाना जाकर; निज-पुरुष-हृत्-लिखितेन—जो अपने भक्तों के हृदय में चित्र की भाँति स्थित हैं; आत्मनि—अपने मन में; पुरुष-रूपेण—अपने स्वरूप से; विरोचमाने—चमकता; उच्चैस्तराम्—अति उच्च स्तर पर; भक्तिः—भक्ति; अनुदिनम्—दिन प्रति दिन; एधमान—बढ़ता हुआ; रया—बलशाली; अजायत—प्रकट हुआ।

इस प्रकार यज्ञों से परिष्कृत महाराज भरत का हृदय सर्वथा कल्मषहीन हो गया। दिन प्रति दिन वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति बढ़ती रही। वासुदेव पुत्र श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं, जो परमात्मा रूप में तथा निर्गुण ब्रह्म के रूप में प्रकट होते हैं। योगी लोग अपने हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान धरते हैं, ज्ञानी परम सत्य निर्गुण ब्रह्म के रूप में उपासना करते हैं और भक्त जन शास्त्रों में वर्णित दिव्य देहधारी भगवान् वासुदेव की आराधना करते हैं। उनका शरीर श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि तथा पुष्पहार से सुशोभित है और वे हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए हैं। नारद जैसे भक्त अपने अन्तःकरण में उनका सदा ध्यान धरते हैं।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वे योगियों के हृदय में परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं और ज्ञानी लोग निर्गुण ब्रह्म के रूप में उनकी उपासना करते हैं। शास्त्रों

में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसमें वे चतुर्भुज रूप में शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए रहते हैं। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (२.२.८) में भी हुई है—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।

चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥

परमात्मा सभी जीवों के हृदयों में स्थित हैं। उनके चार हाथ होते हैं जिनमें वे आयुध धारण किये रहते हैं। ऐसे सभी भक्त जो परमात्मा का ध्यान धरते हैं मन्दिर के अर्चाविग्रह के रूप से श्रीभगवान् की पूजा करते हैं। वे ईश्वर के निर्गुण स्वरूप तथा उनके ब्रह्मतेज से भी परिचित होते हैं।

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात्पुलहाश्रमं प्रवव्राज. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार सदैव कार्यरत रहकर; वर्ष-अयुत-सहस्र—दस हजार वर्षों के एक हजार गुने वर्ष अर्थात् एक करोड़ वर्ष; पर्यन्त—बीतने तक; अवसित-कर्म-निर्वाण-अवसरः—राज्य-ऐश्वर्य का अन्त समझ कर महाराज भरत; अधिभुज्यमानम्—उस काल तक इस प्रकार भोगी जाकर; स्व-तनयेभ्यः—अपने पुत्रों को; रिक्थम्—सम्पत्ति; पितृ-पैतामहम्—अपने पिता तथा पूर्वजों से प्राप्त; यथा-दायम्—मनु के दाय-भाक् नियम के अनुसार (यथायोग्य); विभज्य—बाँट कर; स्वयम्—स्वयं, आप; सकल-सम्पत्—सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का; निकेतात्—घर से; स्व-निकेतात्—अपने पैतृक घर से; पुलह-आश्रमम् प्रवव्राज—हरद्वार में पुलह आश्रम चला गया (जहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती हैं)।

प्रारब्ध ने महाराज भरत के लिए भौतिक ऐश्वर्य-भोग की अवधि एक करोड़ वर्ष नियत कर दी थी। जब यह अवधि समाप्त हुई तो उन्होंने गृहस्थ जीवन त्याग दिया और अपने पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया, उन्होंने समस्त ऐश्वर्य के आगार अपने पैतृकगृह को छोड़ दिया और वे पुलहाश्रम के लिए चल पड़े जो हरद्वार में स्थित है। वहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती हैं।

तात्पर्य : दाय-भाक् नियम के अनुसार जब किसी को कोई सम्पत्ति मिल जाती है, तो उसे अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित करना होता है। महाराज भरत ने इसे सुचारु रूप से सम्पन्न किया। पहले तो पैतृक सम्पत्ति का उन्होंने स्वयं एक करोड़ वर्षों तक उपभोग किया और विरक्त होते समय इस सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया और वे स्वयं पुलह-आश्रम चले गये।

यत्र ह वाव भगवान्हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन सन्निधाप्यत इच्छारूपेण. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निश्चय ही; भगवान्—श्रीभगवान्; हरिः—ईश्वर; अद्य-अपि—आज भी; तत्रत्यानाम्—उस स्थान में रहते हुए; निज-जनानाम्—अपने भक्तों के; वात्सल्येन—अपने दिव्य स्नेह से; सन्निधाप्यते—दृश्य होता है; इच्छा-रूपेण—भक्त की इच्छानुसार।

पुलह आश्रम में भगवान् हरि अपने भक्तों के दिव्य वात्सल्य-वश होकर दृश्य होते रहते हैं और उन सबकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

तात्पर्य : ईश्वर अनेक दिव्य रूपों में विद्यमान रहते हैं। जैसाकि ब्रह्म-संहिता (५.३९) में कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्

नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।

कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

ईश्वर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में स्थित रहते हैं और उनके साथ भगवान् राम, बलदेव, संकर्षण, नारायण, महा-विष्णु इत्यादि उनके अंश भी रहते हैं। भक्त अपनी रुचि के अनुसार इन रूपों की पूजा करते हैं और ईश्वर वात्सल्य-वश अर्चाविग्रह के रूप में उपस्थित होते हैं। कभी-कभी वे भक्त के समक्ष प्रेम के आदान-प्रदान के कारण साक्षात् उपस्थित होते हैं। भक्त ईश्वर की सेवा में पूर्णतया समर्पित रहता है और ईश्वर भक्त की इच्छानुसार दर्शन देते रहते हैं। वह भगवान् राम, कृष्ण, नृसिंहदेव इत्यादि के रूप में उपस्थित हो सकते हैं। भगवान् तथा भक्त के बीच ऐसा ही पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है।

यत्राश्रमपदान्युभयतो नाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; आश्रम-पदानि—सभी आश्रम; उभयतः—ऊपर तथा नीचे, दोनों ओर; नाभिभिः—नाभि चिह्न सदृश; दृषत्—दृश्य; चक्रैः—चक्रों से; चक्र-नदी—चक्र नदी (जिसे गंडकी कहते हैं); नाम—नामक; सरित्-प्रवरा—नदियों में श्रेष्ठ; सर्वतः—सर्वत्र; पवित्री-करोति—पवित्र करती है।

पुलह आश्रम में गण्डकी नदी है जो समस्त नदियों में श्रेष्ठ है। यहाँ इन समस्त स्थलों को पवित्र करने वाली शालग्राम शिलाएँ (संगमरमर की बटियाँ) हैं। इनमें ऊपर तथा नीचे दोनों ओर नाभि जैसे चक्र दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : शालग्राम शिला शब्द उन प्रस्तर बटियों (गोलियों) के लिए प्रयुक्त है जिनके ऊपर-नीचे वृत्त बने रहते हैं। ये गंडकी नदी में मिलते हैं। यह नदी जहाँ-जहाँ से होकर बहती है, वे स्थान तुरन्त पवित्र हो जाते हैं।

तस्मिन्वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः
कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां
निर्वृतिमवाप. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस आश्रम में; वाव किल—निस्सन्देह; सः—भरत महाराज; एकलः—अकेले, एकान्त; पुलह-आश्रम-उपवने—पुलह आश्रम के उद्यानों में; विविध-कुसुम-किसलय-तुलसिका-अम्बुभिः—अनेक पुष्प, किसलय तथा तुलसीदल के साथ-साथ जल से; कन्द-मूल-फल-उपहारैः—मूल, कन्द तथा फलों की भेंट से; च—तथा; समीहमानः—करते हुए; भगवतः—भगवान् की; आराधनम्—आराधना, अर्चना; विविक्तः—विशुद्ध; उपरत—मुक्त होकर; विषय-अभिलाषः—भौतिक इन्द्रिय-सुख की कामना; उपभृत—बढ़ी हुई; उपशमः—शान्ति; पराम्—दिव्य; निर्वृतिम्—सन्तोष, प्रसन्नता; अवाप—प्राप्त किया।

पुलह आश्रम के उपवन में महाराज भरत अकेले रहकर अनेक प्रकार के फूल, किसलय तथा तुलसीदल एकत्र करने लगे। वे गंडकी नदी का जल तथा विभिन्न प्रकार के मूल, फल तथा कन्द भी एकत्र करते। वे इन सबसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव को भोजन अर्पित करते और उनकी आराधना करते हुए सन्तुष्ट रहने लगे। इस प्रकार उनका हृदय अत्यन्त निष्कलुष हो गया और उन्हें भौतिक सुख के लिए लेशमात्र भी इच्छा न रही। उनकी समस्त भौतिक कामनाएँ दूर हो गईं। इस स्थिर दशा में उन्हें परम सन्तोष हुआ और वे भक्ति में बने रहे।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी को मनःशान्ति चाहिए। यह तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से पूर्णतया मुक्त रहे और ईश्वर की भक्तिमय सेवा में निरत रहे। जैसाकि भगवद्गीता (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।* ईश्वर की आराधना तनिक भी खर्चीली नहीं है। मनुष्य चाहे तो उन्हें एक पत्री, पुष्प, फल तथा जल की भेंट चढ़ा सकता है। यदि श्रद्धा तथा प्रेम से ये वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं, तो परमेश्वर इन्हें स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य भौतिक कामनाओं से मुक्त हो सकता है। जब तक भौतिक कामनाएँ बनी रहेंगी, तब तक वह सुखी नहीं रह सकता। ज्योंही मनुष्य ईश्वर की भक्ति में लग जाता है उसका मन समस्त भौतिक कामनाओं से विशुद्ध हो जाता है। तब वह पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है। श्रीमद्भागवत (१.२.६-७) में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

“समस्त मानवता का परम धर्म वह है, जिससे मनुष्य दिव्य ईश्वर की प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते हैं। आत्मतुष्टि के लिए आवश्यक है कि ऐसी भक्ति अहैतुकी और अविरत हो। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति द्वारा मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से विरक्ति को प्राप्त होता है।”

ये उपदेश सर्वोच्च वैदिक साहित्य श्रीमद्भागवत में दिये गये हैं। भले ही कोई पुलह-आश्रम न जा सके, किन्तु जो विधि बताई गई है उससे किसी भी स्थान में रहते हुए प्रसन्नतापूर्वक भक्ति की जा सकती है।

तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्भुतहृदयशैथिल्यः

प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धावलोकनयन एवं
निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन

परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयहृदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तया—उसके द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; अविरत—निरन्तर; पुरुष—परमेश्वर की; परिचर्यया—सेवा द्वारा; भगवति—श्रीभगवान् में; प्रवर्धमान—निरन्तर बढ़ती हुई; अनुराग—आसक्ति का; भर—भार से; द्रुत—द्रवित; हृदय—हृदय; शैथिल्यः—शिथिलता; प्रहर्ष-वेगेन—दिव्य हर्ष के वेग से; आत्मनि—अपने शरीर में; उद्भिद्यमान-रोम-पुलक-कुलकः—रोमांच, रोमों का खड़ा होना; औत्कण्ठ्य—उत्कंठा के कारण; प्रवृत्त—उत्पन्न; प्रणय-बाष्प-निरुद्ध-अवलोक-नयनः—प्रेमाश्रु प्रकट होने से दृष्टि में अवरोध; एवम्—इस प्रकार; निज-रमण-अरुण-चरण-अरविन्द—ईश्वर के लाल लाल चरणकमलों पर; अनुध्यान—ध्यान करने से; परिचित—बढ़ा हुआ; भक्ति-योगेन—भक्ति के कारण; परिप्लुत—सर्वत्र फैलकर; परम—सर्वोच्च; आह्लाद—आनन्द का; गम्भीर—अत्यन्त गहरा; हृदय-हृद—हृदय रूपी सरोवर; अवगाढ—डूबा हुआ; धिषणः—जिसकी बुद्धि; ताम्—वह; अपि—यद्यपि; क्रियमाणाम्—करते हुए; भगवत्—श्रीभगवान् का; सपर्याम्—आराधना; न—नहीं; सस्मार—स्मरण रहा।

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ भक्त महाराज भरत ईश्वर की भक्ति में निरन्तर लगे रहे। स्वाभाविक रूप से वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम बढ़ता गया और अन्ततः उनका हृदय द्रवित हो उठा। फलतः धीरे-धीरे समस्त विधि-विधानों के प्रति उनकी आसक्ति जाती रही। उन्हें रोमांच होने लगा और आह्लाद के सभी शारीरिक लक्षण (भाव) प्रकट होने लगे। उनके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बहने लगी जिससे वे कुछ भी देखने में असमर्थ हो गये। इस प्रकार वे निरन्तर ईश्वर के अरुण चरणारविन्द पर ध्यान लगाये रहते। उस समय उनका सरोवर के सदृश हृदय आनन्द-

जल से पूरित हो गया। जब उनका मन इस सरोवर में निमग्न हो गया तो वे नियमपूर्वक सम्पन्न की जाने वाली भगवद् पूजा भी भूल गये।

तात्पर्य : जब कोई श्रीकृष्ण के प्रेम में विभोर हो उठता है, तो शरीर में आठ दिव्य आनन्दमय लक्षण (भाव) प्रकट होते हैं। ये सिद्धि के लक्षण हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति से उठते हैं। चूँकि महाराज भरत निरन्तर भक्ति में लीन रहते थे इसलिए ये हर्षातिरेक के लक्षण उनमें प्रकट हुए।

इत्थं धृतभगवद्ब्रत ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः
सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; धृत-भगवत्-व्रतः—भगवान् की सेवा का व्रत स्वीकार करके; ऐणेय-अजिन-वासस—मृगचर्म वस्त्र धारण किये; अनुसवन—प्रति दिन तीन बार; अभिषेक—स्नान द्वारा; अर्द्र—गीला; कपिश—भूरा; कुटिल-जटा—घुँघराले केशों की जटा; कलापेन—समूह से; च—तथा; विरोचमानः—अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजाई गई; सूर्यर्चा—सूर्य में स्थित भगवान् नारायण के अंश-विस्तार की वैदिक ऋचाओं द्वारा पूजा; भगवन्तम्—भगवान् को; हिरण्मयम्—स्वर्णकान्ति वाले भगवान्; पुरुषम्—भगवान्; उज्जिहाने—उदय होते हुए; सूर्य-मण्डले—सूर्यमंडल में; अभ्युपतिष्ठन्—पूजा करते हुए; एतत्—यह; उ ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।

महाराज भरत अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उनके शीश पर घुँघराले बालों की राशि थी जो दिन में तीन बार स्नान करने से गीली थी। वे मृगचर्म धारण करते और स्वर्णिम तेजोमय शरीर तथा सूर्य के भीतर वास करने वाले श्रीनारायण की पूजा करते। वे ऋग्वेद की ऋचाओं का जप करते हुए भगवान् नारायण की उपासना करते और सूर्योदय होते ही निम्नलिखित श्लोक का पाठ करते।

तात्पर्य : सूर्य में प्रमुख देवता हिरण्मय यानी भगवान् नारायण हैं। उनकी आराधना गायत्री मंत्र से की जाती है जो इस प्रकार है—ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। उनकी अर्चना ऋग्वेद में दी गई अन्य ऋचाओं से भी की जाती है, यथा—ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्य-वर्ती। सूर्य के भीतर भगवान् नारायण का वास है और उनका रंग सुनहरा है।

परोरजः सवितुर्जातवेदो

देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।

सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे

हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

परः-रजः—रजोगुण से परे (सतोगुण में स्थित); सवितुः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करने वाले का; जात-वेदः—जिससे भक्तों की कामनाएँ पूरी होती है; देवस्य—भगवान् का; भर्गः—आत्म-तेज; मनसा—मात्र चिन्तन से; इदम्—यह; जजान—उत्पन्न किया; सु-रेतसा—दिव्य-शक्ति से; अदः—यह सृष्टि; पुनः—फिर; आविश्य—प्रवेश करके; चष्टे—देखता या पालन करता है; हंसम्—जीव को; गृध्राणम्—भौतिक सुख की कामना करते हुए; नृषत्—बुद्धि के लिए; रिङ्गिराम्—गति प्रदान करने वाले; इमः—नमस्कार है।

“पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् शुद्ध सत्त्व में स्थित हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करते हैं और अपने भक्तों को सभी वर देते हैं। ईश्वर ने अपने दिव्य तेज से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। वे अपनी ही इच्छा से इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हुए और अपनी विभिन्न शक्तियों से भौतिक सुख की इच्छा रखने वाले समस्त जीवों का पालन करते हैं। ऐसे बुद्धिदायक भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।”

तात्पर्य : सूर्य का प्रधान अधिष्ठातृ देवता नारायण का ही अन्य अंश है, जो समस्त ब्रह्माण्ड को अलोकित करता है। ईश्वर समस्त जीवात्माओं के हृदय में परमात्मा के रूप में प्रवेश करता है और उन्हें बुद्धि प्रदान करते हैं तथा उनकी कामनाओं को पूरा करते हैं। *भगवद्गीता* से (१५.१५) भी इसकी पुष्टि होती है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—मैं सबके हृदय में आसीन रहता हूँ।

ईश्वर परमात्मा के रूप में सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश करते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कथित है—*अण्डान्तर-स्थ-परमाणु-चयान्तर-स्थम्*—“वह ब्रह्माण्ड तथा अणु में समान भाव से प्रवेश करता है।” ऋग्वेद में सूर्य के प्रमुख अधिष्ठातृ देवता की अर्चना इस मंत्र से की गई है—*ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः*। सूर्य के भीतर नारायण अपने कमल पुष्प पर आसीन हैं। इस मंत्र का उच्चारण करते हुए सूर्योदय के समय प्रत्येक जीव को नारायण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह संसार सूर्य के तेज पर निर्भर है। सूर्य प्रकाश से ही सभी ग्रह घूमते हैं और वनस्पतियाँ उगती हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि चन्द्रमा की चाँदनी वनस्पतियों तथा जड़ी-बूटियों के उगने में सहायता करती है। वास्तव में नारायण सूर्य के भीतर स्थित होकर सारे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं अतः नारायण की उपासना गायत्री मंत्र ऋग् मंत्र से करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “राजा भरत के कार्यकलाप” नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।